संपादकीय

प्रकृतिपरक विकास ही पर्यावरण-समस्या का एकमात्र निदान है!

आजकल पारिस्थितिकीय संकट, परिवेश में बदलाव, पर्यावरण प्रदूषण, जलवायु परिवर्तन तथा प्राकृतिक आपदाओं की चतुर्दिक चर्चाएँ चलती हैं और इसके लिए भौतिक सुख-सुविधाओं के विस्तार एवं आधुनिक विकास को जिम्मेदार ठहराया जाता है; किंतु क्या सही नहीं है कि इस बात का आभास विकास की नई-नई ऊँचाइयों को छूने के उपरांत ही हो पाया है। यह बिलकुल स्वाभाविक है; आखिर चुनौतियों-समस्याओं का निदान खोजे बगैर, उपचार के लिए दवा को ईजाद किए बिना उसके साइड इफेक्ट का पता कैसे चलता। दूरदर्शी दृष्टिकोण के अभाव में बड़ी परियोजनाओं के चालू होने के साथ पर्यावरण संकट ज्यादा गहराता गया है। फलस्वरूप, स्वयंसेवी संस्थाओं से लेकर सरकार के पर्यावरण मंत्रालय तक और राष्ट्रीय हरित पंचाट से लेकर राष्ट्रसंघ तक के पर्यावरण विभाग की जिम्मेदारी बढ़ी है। पर्यावरण-प्रबंधन को पाठ्यक्रमों का विषय बनाया गया है। बौद्धिक विमर्श करने वाले पर्यावरणविदों और कार्यकर्ताओं की जमात तैयार हुई है। उन्नयन की अनंत अभिलाषाओं से आच्छादित मेधावी जन-समाज कभी भी शांत बैठने वाला नहीं है। जिस दिन वह विकासोन्मुखता से मुँह मोड़ लेगा या उसे अंतिम मान बैठेगा, संभवतः उसी दिन से मानव समाज के पतन का आरंभ होगा!

अस्तु, आधुनिक विकास के भागमभाग में शुरू में दुष्प्रभावों की ओर देखने की कोई जुर्रत नहीं करता, क्योंकि इससे विकास की राह से भटकने का खतरा उत्पन्न हो सकता है। परंतु कोई विकास अपने से होने वाले नुकसान से उदासीन कैसे रह सकता है? जब नुकसान भयावह होने लगता है, तब उस पर ध्यान देने की मजबूरी हो जाती है। वायु-जल व ध्वनि प्रदूषण, जल-स्तर व उसकी गुणवत्ता में गिरावट, जलवायु परिवर्तन आदि का जो आसन्न संकट खड़ा हुआ है, उसे चिन्हित करना वैज्ञानिक विकास के कारण ही संभव हुआ है। विकास शौक-शगल ही नहीं, वर्तमान समय की जरूरत भी है, नहीं तो विशाल जनसंख्या के लिए बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के भी लाले पड़ जाएँगे। लेकिन अब यही विलासिता की हद तक पहुँचकर प्राकृतिक व्यवस्था और पर्यावरणीय संतुलन को नष्ट-भ्रष्ट कर रहा है। अत्यधिक दोहन से क्षयशील प्राकृतिक संसाधनों को एक न एक दिन खत्म होना ही है, इसलिए सौर ऊर्जा जैसे अक्षय स्रोत के ज्यादा से ज्यादा इस्तेमाल का तरीका ढूँढ़ा जाना चाहिए, जिससे प्रदूषण न फैले और संसाधनों की कमी भी आड़े न आए।

मुश्किल यह है कि विकास का कोई ऐसा मॉडल सामने नहीं आया है, जहाँ जरूरी विकास तो हो, पर पर्यावरण को तनिक भी क्षति न पहुँचे। आधुनिक दौर का विकास व्यक्तिपरक है, प्रकृतिपरक नहीं। चाहे मशीनीकरण हो या औद्योगीकरण अथवा शहरीकरण - ये प्रकृति के विपरीतगामी विकास हैं। इससे प्रकृति का कोई न कोई अंग क्षरित-विखंडित अवश्य होता है। आज शहरों की आबादी और क्षेत्र बेतहाशा बढ़ते जा रहे हैं, वहाँ रहने का आकर्षण-क्रेज दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है, जबकि गाँव सिकुड़ रहे हैं। इसीलिए वर्तमान मोदी सरकार ने जब सौ स्मार्ट सिटी बसाने की घोषणा की, तो इसे विकास की बहार लाने वाली बड़ी उपलब्धि के तौर पर देखा गया। जहाँ उद्योग-धंधे नहीं हैं, वहाँ लोग उनके न होने का रोना रोते हैं और जहाँ हैं, वहाँ उनके कुप्रभावों को झेलना पड़ता है। लेकिन ऐसा तो हर चीज के साथ होता है; कोई संतान न होने को लेकर परेशान है तो कोई संतान से परेशान है। तमाम अच्छाइयों-बुराइयों को समेटे शहरीकरण, औद्योगीकरण, यंत्रीकरण पर आधारित विकास-क्रांति वैश्विक दुनिया की नियति बन चुकी है। यह वरदान भी है और अभिशाप भी। इसमें उपेक्षित रहने वालों की संख्या भी बड़ी है, जिनके लिए छोटी-मोटी नौकरी पा जाना और ऊँची अट्टालिकाओं के बीच एक-दो कमरे का किस विध फ्लैट पा जाने की चाहत ही सब कुछ है। ऐसे में इनके लिए पर्यावरण यानी चारों तरफ के संपूर्ण वातावरण का समुन्नत दायरा कैसा हो सकता है?

पर्यावरण के चिरपरिचित नाम प्रकृति से सब भलीभाँति अवगत हैं। मनुष्य इस प्रकृति का एक घटक मात्र है, लेकिन वह दिमागदार व दिलदार होने की वजह से अपनी भौतिक सुख-सुविधाओं के लिए प्रकृति का भरपूर दोहन करना जानता है और करता है। इस प्रकार वह इसका एक सीमा तक स्वामित्व हासिल कर चुका है और इसीलिए प्रकृति के साथ जो भी अच्छा-बुरा होता है, उसका जिम्मेदार भी सबसे ज्यादा वही है। आस-पड़ोस, रहन-सहन, साफ-सफाई, खान-पान, पेड़-पौधे, कीड़े-मकोड़े, जीव-जंतु, पशु-पक्षी तथा नागरिक सुविधाओं के मध्य परिवेश बनता है, फिर मिट्टी, जल, वायु, धूप, नदी, पहाड़, चट्टान सब उसमें अंतर्भूत हैं। इसी माहौल से लघुतम वातावरण और पर्यावरण की स्थिति सुनिश्चित होती है। परंतु यह सवाल अनुत्तरित है कि चारों ओर के घेरे को कितना छोटा या कितना व्यापक माना जाए? एक आदमी को कमरे, घर

और उसके आस-पास की स्वच्छता या गंदगी सर्वाधिक प्रभावित करती है। बाहर सब कुछ ठीक-ठाक हो भी, तो उसे उसका कितना लाभ होगा? बड़ी परिसीमाओं की विराट आत्मा के लिए तो द्युलोक को सिर, सूर्य-चन्द्र को नेत्र, दिशाओं को कान, वायु को प्राण, पृथ्वी को हृदय और पाताल को पद कहा गया है। इन पर भला किसका नियंत्रण हो सकता है? यह आत्मिक ब्रह्मांड संपूर्ण प्रकृति और बृहत्तर पर्यावरण है।

आविष्कार-अनुसंधान की बदौलत उन्नति के उच्च शिखर तक पहुँचने वाले समाज के लिए छोटी-बड़ी विकास परियोजनाएँ को प्रकृतिपरक बनाने की ओर मोड़ना पर्यावरणीय संकट का असली उपचार है। सच तो यह है कि कोई भी प्रगति-उन्नति प्रकृति से विच्छिन्न होकर, उसके उलट जाकर सार्थक नहीं हो सकती। लेकिन आज संसार में जिस विकास की धूम मची है, वह केवल और केवल प्रकृति-प्रतिकूल विकास है। अगर कभी प्रकृति का प्रतिगामी होना खटकता है, तो वह मनुष्य पर आने वाले संकटों को भाँपकर-देखकर ही। इस प्रकार वर्तमान विकास अप्राकृतिक है; आत्मिक नहीं, अनात्मिक है। आत्मिक का संबंध 'आत्म' और 'आत्मा' दोनों से है। जो विकास आत्म और आत्मा से विमुख होकर मायावी चकाचौंध में आँखमिचौली कराए, वह कितनी मानसिक-बौद्धिक उच्चता का द्योतक है - यह शोचनीय है। जो आत्मिक नहीं, वह परमात्मिक भी नहीं हो सकता। भूमा व प्रकृति के चर-अचर पदार्थों के मेल की लयात्मकता में संयोजित समूची हलचल परस्पर सन्नद्ध है। वे एक-दूसरे को प्रभावित भी करते हैं और उनसे प्रभावित भी होते हैं। यह सब अकारण नहीं होता। जैसे किसी छत से एक छटाक चूना एक समय विशेष में गिरता है तो उसका प्रत्यक्ष व सीधा कारण तो होता ही है, पर अदृश्य कारण भी होता है, जिससे वह उसी समय, उतनी ही मात्रा में, उसी जगह गिरा, बशर्ते वह 'अनायास' गिरा हो। निर्जीव की क्रियाएँ जब निसर्ग से संचालित हैं तो फिर सजीव की बात ही क्या है।

मनुष्य की हर क्रिया का पर्यावरण पर प्रभाव पड़ता है, हर पर्यावरणीय घटना मनुष्य को प्रभावित करती है। सभी प्राणवानों में आत्मा का वास है, जो परस्पर संगूँफित हैं। पेड़-पौधे, नदी-पहाड़, जल, वायु, अग्नि, धरती, आकाश, सूर्य, चन्द्र आदि का मानवीकरण ही नहीं, उन्हें देवत्व का स्थान प्रदान कर पूजने की परंपरा के पीछे उनकी पर्यावरणीय अपरिहार्यता व जीवनोपयोगी महत्ता को स्थापित करना ही ध्येय है। अब जैसे-जैसे प्रकृति-प्रतिगामी तकनीकी व मशीनी विकास हो रहा है, वैसे-वैसे आदमी का हार्दिक व आत्मिक ह्रास हो रहा है, मन-मस्तिष्क कमजोर होता गया है। 19वीं और 20वीं सदी के दौरान कार्बन डाई आक्साइड का घनत्व पच्चीस प्रतिशत तक बढ़ा है। इससे श्वास संबंधी नई-नई दिक्कतें उत्पन्न हुई हैं। रेडियोधर्मी विकिरण से मस्तिष्क व त्वचा के कैंसर जैसी घातक बीमारियों में बढ़ोतरी दर्ज की गई है।

बाकी विकास चाहे स्वतः हो भी जाएँ, पर भौतिक विकास अपने आप नहीं होता। यह प्रयत्नपूर्वक ही हुआ है और प्रयत्नपूर्वक ही होगा। नदियों में गंदगी गिराने, खेत में बेहिसाब रासायनिक खाद डालने, पेड़-पौधे को काटने, वन्य क्षेत्र को कम करने, पहाड़ों की अत्यधिक खुदाई करने के बाद यदि दृढ़ संकल्प कर भी लिया जाए, तब भी उन्हें पूर्ववत स्थिति में लाना नामुमकिन है। दूसरी ओर, भू-विकास, भूमि संरक्षण, वनरोपण, हरियाली-ग्रीनबेल्ट का विस्तार, ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन पर नियंत्रण, ध्वनि-शोर को न्यूनतम करके और जीव-जंतु के शौकिया शिकार पर पूर्ण प्रतिबंध को कार्यान्वित करके पुरानी क्षति की भरपाई की जा सकती है। नदी का जल गंदगी से युक्त हो तो उसे वैज्ञानिक रूप में साफ तो किया जा सकता है, पर शुद्ध कदापि नहीं किया जा सकता। इसलिए नदियों को गंदा करके साफ करने की बजाय गंदा होने से रोकना शुद्धता और पवित्रता को अक्षुण्ण रखने का उत्तम उपाय है। प्राकृतिक संपदाओं के सौंदर्य व नैसर्गिक छटा के नैरन्तर्य को बनाए रखने का यही सही तरीका है। इसी से जीवन में रूप और चेतना की निर्मिति होती है।

अब जब विकास की दिशा काफी हद तक तय है चाहे वह विशुद्ध भौतिक विकास पर ही केन्द्रित क्यों न हो, तब सारी योजनाएँ तथा यंत्र, उद्योग, व्यापार, शहरीकरण आदि प्रकृति के अनुपूरक होकर विकसित हों, तो पर्यावरण का संकट उत्पन्न नहीं होगा; अन्यथा वह तात्कालिक न सही, दीर्घकालिक नासूर का रास्ता अख्तियार करेगा। विकास मनुष्य मात्र की फितरत है, परंतु इस कारण पर्यावरण के संकट को लाइलाज बना देना कि सिवाय इस पर हो-हल्ला मचाने के और कुछ नहीं किया जा सकता - प्राकृतिक आपदाओं को आमंत्रित करना है। प्रकृति और पुरुष के संयोग से जीवन की उत्पत्ति मानी जाती है। प्रकृति की ओर उन्मुख होकर ही उसके अंग-उपांगों को पूजा जाता है; ठीक उसी प्रकार सारे वैकासिक कार्य प्रकृति-पर्यावरण के सन्मुख उसी को भेंट चढ़ाने के निमित्त संपन्न हों, तो पर्यावरण संतुलन गड़बड़ाएगा नहीं, उसके संरक्षण की आवश्यकता भी नहीं पड़ेगी।